IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

वैदिक युग में स्त्री–अधिकारों की अवधारणाः समकालीन विमर्श के संदर्भ में पुनर्मूल्यांकन

[1]गरिमा एवं [2]डॉ० अपर्णा कुमारी

[1]पी.एच.–डी. शोध छात्रा, विश्वविद्यालय इतिहास विभाग, बी० आर० ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

[2]प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्षा, विश्वविद्यालय इतिहास विभाग, बी0 आर0 अम्बेडकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर (बिहार)।

सारांश :– वैदिक युग (लगभग 1500–600 ईसा पूर्व) भारतीय इतिहास का वह महत्वपूर्ण कालखंड है जिसमें स्त्रियों की सामाजिक, शैक्षिक, धार्मिक एवं आर्थिक स्थिति को अपेक्षाकृत स्वतंत्र एवं सम्मानजनक माना जाता है। ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक ग्रंथों में स्त्री–ऋषिकाओं 'घोषा, अपाला, लापामुद्रा, विश्ववारा आदि' के मंत्र–दर्शन, ब्रह्मवादिनी स्त्रियों के वेद–अध्ययन तथा गार्गी व मैत्रेयी जैसे दार्शनिक संवादों के उल्लेख मिलते हैं। स्त्रियाँ यज्ञ में सहभागिनी थीं, सभा–विदथ में उपस्थित रहती थीं तथा परिवार में अर्धांगिनी एवं सहधर्मिणी के रूप में सम्मानित थीं। विवाह परिपक्व आयु में होता था तथा स्वयंवर व गंधर्व विवाह जैसी प्रथाएँ उनकी पसंद की स्वतंत्रता दर्शाती थीं। स्त्रीधन जैसी अवधारणा उनके सीमित आर्थिक अधिकारों का संकेत देती है। किंतु यह स्थिति पूर्ण समानता की नहीं थी। पितृसत्तात्मक संरचना, पुत्र–प्राथमिकता, विवाहित पुत्री के पैतृक संपत्ति अधिकारों की सीमा तथा दासियों की उपस्थिति स्पष्ट रूप से विद्यमान थीं। उत्तर–वैदिक काल में कृषि–विस्तार, भूमि–संपत्ति के महत्व एवं यज्ञ–कर्म की जटिलता के साथ स्त्रियों की स्वतंत्रता में क्रमिक ह्रास देखा गया। यज्ञ पुरुष–ब्राह्मणों के अधिकार क्षेत्र में चला गया तथा स्त्री की भूमिका मुख्यतः गृहस्थी तक सीमित होने लगी। समकालीन विमर्श में दो प्रमुख धाराएँ दिखाई देती हैं। एक ओर राष्ट्रवादी एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण इसे "स्वर्ण युग" के रूप में प्रस्तुत करता है, तो दूसरी ओर नारीवादी इतिहासकार 'विशेषकर उमा चक्रवर्ती' इसे आंशिक सत्य तथा ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के निर्माण के रूप में आलोचना करते हैं। उन्होंने "वैदिक दासी" की अनुपस्थिति को राष्ट्रवादी इतिहास–लेखन की कमी बताया है। प्रस्तुत शोध–पत्र वैदिक स्रोतों के आधार पर स्त्री–अधिकारों का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यह शिक्षा, धार्मिक भागीदारी, विवाह, परिवार एवं आर्थिक अधिकारों का अध्ययन करते हुए समकालीन नारीवादी, राष्ट्रवादी एवं सांस्कृतिक विमर्श के परिप्रेक्ष्य में उनका आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन करता है। निष्कर्ष यह है कि वैदिक युग में स्त्री की स्थिति सापेक्ष रूप से बेहतर थी, परंतु निरपेक्ष समानता नहीं। यह सापेक्ष स्वतंत्रता आधुनिक सशक्तिकरण के लिए प्रेरणा का स्रोत हो सकती है, किंतु उसे अतीत की आदर्श छवि में बाँधना उचित नहीं।

मुख्य शब्द :– वैदिक युग, स्त्री–अधिकार, स्त्री–स्थिति, ऋषिकाएँ, ब्रह्मवादिनी, पितृसत्ता, उमा चक्रवर्ती, स्वर्ण युग, समकालीन विमर्श, नारीवाद, अर्धांगिनी, स्त्रीधन।

1. परिचय

वैदिक युग भारतीय सभ्यता और संस्कृति का आधार–स्तंभ माना जाता है। इस काल की सामाजिक संरचना मुख्यतः कबीलाई–पशुपालक अर्थव्यवस्था से कृषि–आधारित व्यवस्था की ओर संक्रमण करती हुई दिखाई देती है। इसी संक्रमण के बीच स्त्री की स्थिति, उसके अधिकारों तथा सामाजिक भूमिका का अध्ययन केवल ऐतिहासिक जिज्ञासा का विषय नहीं रह गया है, बल्कि समकालीन जेंडर–विमर्श, सांस्कृतिक पहचान, नारी–सशक्तिकरण तथा भारतीय ज्ञान–परंपरा के पुनर्निर्माण की बहस से गहराई से जुड़ गया है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में औपनिवेशिक विमर्श ने भारतीय समाज को स्त्री–दमनकारी बताते हुए अपनी नैतिक श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयास किया। इसके प्रत्युत्तर में राष्ट्रवादी इतिहास–लेखन ने वैदिक युग को स्त्रियों के लिए "स्वर्ण युग" के रूप में प्रस्तुत किया। आर.सी. दत्त, दयानंद सरस्वती तथा बाद में ए.एस. अल्टेकर जैसे विद्वानों ने ऋग्वेद की ऋषिकाओं, शिक्षा के अधिकार तथा परिवार में स्त्री के सम्मान को आधार बनाकर एक आदर्श स्त्री–छवि का निर्माण किया। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में नारीवादी इतिहासकारों, विशेषकर उमा चक्रवर्ती ने अपने निबंध 'वाटवेभर हैपेंड टू द वेदिक दासी'' में इस छवि का चुनौती दी। उन्होंने तर्क दिया कि "वैदिक आर्य स्त्री" की आदर्श छवि का निर्माण औपनिवेशिक आलोचना के जवाब में हुआ, जबकि वैदिक साहित्य में मौजूद दासी, पुत्र–प्राथमिकता तथा संपत्ति पर पुरुष नियंत्रण जैसी वास्तविकताओं को अदृश्य कर दिया गया।

आज जब भारतीय संविधान अनुच्छेद 14 एवं 15 के माध्यम से स्त्री–पुरुष समानता की गारंटी देता है, तब वैदिक अवधारणा का पुनर्मूल्यांकन आवश्यक हो जाता है। प्रश्न यह है कि क्या वैदिक युग में स्त्री–अधिकार आधुनिक समानता का आधार प्रदान कर सकते हैं, अथवा वे अपने समय की पितृसत्तात्मक सीमाओं स बँधे हुए थे? क्या "अर्धांगिनी" तथा "सहधर्मिणी" की अवधारणा समकालीन जेंडर–न्याय की भाषा में अनुवादित की जा सकती है, अथवा यह केवल सांस्कृतिक गौरव की पुनर्प्राप्ति का माध्यम है?

इस शोध–पत्र का उद्देश्य वैदिक साहित्य (मुख्यतः ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा बृहदारण्यक उपनिषद्) के आधार पर स्त्री–अधिकारों का विश्लेषण प्रस्तुत करना है। साथ ही, समकालीन नारीवादी, राष्ट्रवादी एवं सांस्कृतिक विमर्श के आलोक में इन अधिकारों का आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन करना है। अध्ययन इस बात पर बल देता है कि वैदिक युग में स्त्री की स्थिति सापेक्ष रूप से बेहतर थी, परंतु पूर्ण समानता की नहीं। यह सापेक्ष स्वतंत्रता आधुनिक सशक्तिकरण के लिए प्रेरणा का स्रोत हो सकती है, किंतु उसे अतीत की जकड़न में बाँधना उचित नहीं।

2. वैदिक साहित्य में स्त्री की स्थितिः प्रारंभिक एवं उत्तर वैदिक काल

वैदिक युग को सामान्यतः दो प्रमुख चरणों 'ऋग्वैदिक (प्रारंभिक वैदिक) तथा उत्तर–वैदिक काल' में विभाजित किया जाता है। इन दोनों चरणों में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में उल्लेखनीय अंतर दिखाई देता है।

(i) प्रारंभिक वैदिक (ऋग्वैदिक) काल (लगभग 1500–1000 ईसा पूर्व)

ऋग्वैदिक काल में स्त्रियों को सामाजिक स्थिति अपेक्षाकृत खुली, सम्मानजनक एवं सक्रिय थी। परिवार में उन्हें "अर्धांगिनी" कहा गया, जिसका शाब्दिक अर्थ है पुरुष का आधा अंग। यह अवधारणा पति–पत्नी के बीच सहयोग एवं साझेदारी को दर्शाती है। ऋग्वेद में पति–पत्नी को रथ के दो चक्रों के समान बताया गया है, जो बिना एक–दूसरे के अधूरे माने जाते थे। स्त्रियाँ सभा एवं विदथ जैसी जन–सभाओं में भाग ले सकती थीं तथा सामाजिक निर्णयों में उनकी उपस्थिति स्वीकार की जाती थी। ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध मंत्र में उल्लेख है– "मैं कवि हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं, मेरी माता अनाज पीसने वाली है।" यह पंक्ति पारिवारिक व्यावसायिक विविधता तथा स्त्री की आर्थिक भूमिका को स्पष्ट रूप से दर्शाती है। स्त्रियाँ कृषि, पशुपालन, गृह–उद्योग एवं अन्य आर्थिक गतिविधियों में सक्रिय योगदान देती थीं। पुत्र–प्राथमिकता अवश्य विद्यमान थी। अयितरेय ब्राह्मण में पुत्री का "कृपण" (दुख का कारण) तथा पुत्र को "ज्योति" (प्रकाश) कहा गया है। फिर भी कन्या का जन्म अवांछनीय नहीं माना जाता था। कन्याओं को "दुहिता" कहा गया, जो परिवार की आर्थिक गतिविधियों (जैसे गाय दुहना) से जुड़ी हुई थी। बाल–विवाह, पर्दा–प्रथा तथा सती–प्रथा के स्पष्ट प्रमाण इस काल में नहीं मिलते। विधवा–पुनर्विवाह तथा नियोग जैसी प्रथाओं के संकेत भी मौजूद हैं।

(ii) उत्तर–वैदिक काल (लगभग 1000–600 ईसा पूर्व)

उत्तर–वैदिक काल में सामाजिक–आर्थिक परिवर्तनों के साथ स्त्रियों की स्वतंत्रता में क्रमिक कमी आई। कृषि के विस्तार तथा भूमि–संपत्ति के बढ़ते महत्व ने पितृवंशीय व्यवस्था को सुदृढ़ किया। यज्ञ–कर्म अत्यंत जटिल हो गया तथा उसका संचालन मुख्यतः पुरुष–ब्राह्मणों के हाथ में चला गया। परिणामस्वरूप धार्मिक क्षेत्र में स्त्रियों की सक्रिय भागीदारी सीमित होने लगी। शतपथ ब्राह्मण में स्त्री को पुरुष के अधीन रखने की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। परिवार में स्त्री की भूमिका अब मुख्यतः गृहस्थी, संतानोत्पत्ति तथा वंश–वृद्धि तक सीमित होती चली गई। संपत्ति के उत्तराधिकार में पुत्रों को प्राथमिकता दी जाने लगी तथा विवाहित पुत्रियों के पैतृक अधिकार और भी सीमित हो गए। इस काल में पितृसत्ता अधिक संस्थागत रूप धारण करने लगी, जिसने बाद के धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में स्त्री–अधिकारों के और अधिक नियंत्रण का आधार तैयार किया। इस प्रकार प्रारंभिक वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति सापेक्ष रूप से स्वतंत्र एवं सम्मानजनक थी, जबकि उत्तर–वैदिक काल में सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप उनकी स्वायत्तता में स्पष्ट ह्रास दिखाई देता है।

3. शिक्षा एवं बौद्धिक अधिकार

वैदिक युग की सबसे उल्लेखनीय एवं प्रगतिशील विशेषता स्त्रियों को शिक्षा का अधिकार प्रदान करना है। इस काल में ज्ञानार्जन लिंग–भेद से पूरी तरह मुक्त नहीं था, किंतु स्त्रियों के लिए शिक्षा के द्वार अपेक्षाकृत खुले हुए थे। वैदिक साहित्य में दो स्पष्ट वर्गों का उल्लेख मिलता है– ब्रह्मवादिनी तथा सद्योवधू। ब्रह्मवादिनी वे स्त्रियाँ थीं जो आजीवन अध्ययन एवं आध्यात्मिक साधना में संलग्न रहती थीं, जबकि सद्योवधू वे थीं जो विवाह तक शिक्षा ग्रहण करती थीं और उसके बाद गृहस्थ जीवन में प्रवेश करती थीं। हारीत स्मृति में स्पष्ट उल्लेख है कि ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ उपनयन संस्कार, अग्न्याधान, वेद–अध्ययन तथा भिक्षा का अभ्यास कर सकती थीं। यह इस बात का प्रमाण है कि स्त्रियों के लिए भी ब्रह्मचर्य आश्रम की व्यवस्था उपलब्ध थी। ऋग्वेद

में लगभग 27 स्त्री–ऋषिकाओं (ऋषिकाओं) के नाम मिलते हैं, जिन्होंने मंत्रों का दर्शन किया। इनमें प्रमुख हैं–

- घोषा काक्षीवती (ऋग्वेद 10.39–40)
- अपाला आत्रेयी (ऋग्वेद 8.91)
- विश्ववारा आत्रेयो (ऋग्वेद 5.28)
- लोपामुद्रा (ऋग्वेद 1.179)
- वागाम्भृणी (ऋग्वेद 10.125)
- रोमशा, यमी वैवस्वती, इंद्राणी, सरमा आदि।

ये ऋषिकाएँ न केवल मंत्रों की द्रष्टा थीं, बल्कि आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चिंतन में भी सक्रिय थीं।

उत्तर–वैदिक काल के उपनिषदों में स्त्रियों की बौद्धिक क्षमता और भी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में दो प्रसिद्ध संवाद उल्लेखनीय हैं। प्रथम, गार्गी वाचक्नवी का राजा जनक की सभा में याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ। गार्गी ने ब्रह्म की प्रकृति एवं जगत के आधार पर ऐसे गूढ़ एवं तार्किक प्रश्न किए कि सभा स्तब्ध रह गई। द्वितीय, मैत्रेयी का प्रसंग – जब याज्ञवल्क्य संन्यास लेने से पूर्व संपत्ति बाँटना चाहते थे, तो मैत्रेयी ने कहा कि जिस धन से अमरत्व न मिले, उसका क्या लाभ? यह प्रश्न स्त्री की आध्यात्मिक जिज्ञासा एवं भौतिक संपत्ति से ऊपर उठने की क्षमता को दर्शाता है।ये उदाहरण सिद्ध करते हैं कि वैदिक काल में ज्ञान का क्षेत्र लिंग–भेद से अपेक्षाकृत मुक्त था। स्त्रियाँ न केवल वेदों का अध्ययन करती थीं, बल्कि उच्च दार्शनिक विमर्श में भी सक्रिय भागीदारी करती थीं। फिर भी यह सुविधा मुख्यतः उच्च वर्ग एवं ब्राह्मण परिवारों की स्त्रियों तक सीमित प्रतीत होती है। सामान्य स्त्रियों के लिए शिक्षा की व्यवस्था कितनी व्यापक थी, इस संबंध में स्पष्ट साक्ष्य सीमित हैं। तथापि, उपलब्ध प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक युग में स्त्रियों की बौद्धिक एवं आध्यात्मिक क्षमता को समाज में सम्मान एवं अवसर प्राप्त था।

4. धार्मिक एवं सामाजिक भागीदारी

वैदिक युग में स्त्रियों की धार्मिक एवं सामाजिक भागीदारी अपेक्षाकृत सक्रिय एवं सम्मानजनक थी। ऋग्वैदिक काल में स्त्रियाँ यज्ञ की सहभागिनी मानी जाती थीं। पति–पत्नी दोनों मिलकर यज्ञ करते थे तथा पत्नी की उपस्थिति के बिना कई धार्मिक अनुष्ठान अधूरे माने जाते थे। कुछ स्त्रियाँ ऋषि–पद पर आसीन थीं तथा उन्होंने मंत्रों का दर्शन किया। सभा एवं विदथ जैसी जन–सभाओं में उनकी उपस्थिति के उल्लेख ऋग्वेद में मिलते हैं, जो सामाजिक निर्णयों में उनकी भागीदारी का संकेत देते हैं।

ऋग्वैदिक काल में पर्दा–प्रथा तथा सती–प्रथा के स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते। विधवा–पुनर्विवाह तथा नियोग (पुत्रोत्पत्ति हेतु विधवा का देवर या अन्य संबंधी से संबंध) जैसी प्रथाओं के संकेत मौजूद हैं। ये प्रथाएँ स्त्री की सामाजिक गतिशीलता को सीमित रूप में ही सही, दर्शाती हैं। फिर भी सामाजिक स्वतंत्रता के बावजूद परिवार मूल रूप से पितृसत्तात्मक था। स्त्री की पहचान मुख्यतः पत्नी एवं माता के रूप में होती थी। वैदिक साहित्य में दासियों (दासी) का उल्लेख भी मिलता है, जो प्रायः युद्ध में बंदी बनाई गई स्त्रियाँ थीं। ये दासी गृह–कार्य, कृषि एवं अन्य श्रम में संलग्न रहती थीं तथा कभी–कभी यौन शोषण का भी शिकार होती थीं। उमा चक्रवर्ती ने अपने प्रसिद्ध निबंध में ठीक इसी "वैदिक दासी" की अनुपस्थिति को राष्ट्रवादी

इतिहास–लेखन की सबसे बड़ी कमी बताया है। उन्होंने तर्क दिया कि ऊपरी जाति की शिक्षित आर्य–स्त्री की आदर्श छवि निर्मित करते समय श्रमशील एवं अधीनस्थ स्त्रियों को इतिहास से गायब कर दिया गया। इस प्रकार वैदिक काल में स्त्रियों की धार्मिक–सामाजिक भागीदारी सापेक्ष स्वतंत्रता दर्शाती है, परंतु यह स्वतंत्रता वर्ग एवं जाति की सीमाओं से बँधी हुई थी।

5. विवाह, परिवार एवं आर्थिक अधिकार

वैदिक युग में विवाह को एक पवित्र सामाजिक एवं धार्मिक बंधन माना जाता था। विवाह सामान्यतः परिपक्व आयु (लगभग 15–16 वर्ष) में होता था। बाल–विवाह के स्पष्ट प्रमाण ऋग्वैदिक काल में नहीं मिलते। स्वयंवर तथा गंधर्व विवाह जैसी प्रथाएँ स्त्री की पसंद की स्वतंत्रता को दर्शाती हैं। एकपत्नीत्व सामान्य प्रथा थी, यद्यपि कुलीन एवं राजपरिवारों में बहुविवाह भी प्रचलित था। पत्नी को अर्धांगिनी एवं सहधर्मिणी कहा जाता था, जो पति–पत्नी के बीच सहयोग की भावना को व्यक्त करता है।

आर्थिक अधिकारों की दृष्टि से स्त्रियों की स्थिति सीमित थी। स्त्रीधन 'विवाह के समय प्राप्त आभूषण, वस्त्र, उपहार तथा अन्य चल संपत्ति' स्त्री की निजी संपत्ति मानी जाती थी, जिस पर उसका नियंत्रण रहता था। किंतु विवाहित पुत्री को पैतृक संपत्ति में सामान्यतः अधिकार नहीं मिलता था। अविवाहित पुत्री को भाई के हिस्से का लगभग एक–चौथाई मिल सकता था। कृषि–भूमि तथा मुख्य अचल संपत्ति पुरुष वंश में ही रहती थी। स्त्रियाँ गृह–उद्योग, कृषि सहायता, पशुपालन तथा कभी–कभी शिक्षण में भी योगदान देती थीं। कुछ स्त्रियाँ आर्थिक गतिविधियों में सक्रिय थीं, परंतु पूर्ण आर्थिक स्वायत्तता दुर्लभ थी। इस प्रकार वैदिक काल में स्त्रियों को सीमित आर्थिक अधिकार प्राप्त थे, जो मुख्यतः स्त्रीधन तक ही केंद्रित थे। संपत्ति के उत्तराधिकार में पुरुष प्रधानता स्पष्ट रूप से विद्यमान थी, जो पितृसत्तात्मक व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण पहलू था।

6. समकालीन विमर्श: स्वर्ण युग का मिथक बनाम आलोचनात्मक पुनर्पाठ

वैदिक युग में स्त्रियों की स्थिति को लेकर समकालीन विमर्श मुख्य रूप से दो धाराओं में विभाजित दिखाई देता है। ये दोनों धाराएँ न केवल इतिहास की व्याख्या को प्रभावित करती हैं, बल्कि वर्तमान नारी–सशक्तिकरण एवं सांस्कृतिक पहचान की बहस को भी आकार देती हैं।

(i) राष्ट्रवादी एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण

एक प्रमुख धारा राष्ट्रवादी तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण की है। इस धारा के अनुसार वैदिक युग स्त्री–सशक्तिकरण का "स्वर्ण युग" था। गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा, घोषा जैसी ऋषिकाओं के उदाहरणों को आधार बनाकर यह तर्क दिया जाता है कि पाश्चात्य नारीवाद के उदय से बहुत पहले ही भारत में स्त्री को शिक्षा, धार्मिक भागीदारी एवं सामाजिक सम्मान प्राप्त था। मनुस्मृति का प्रसिद्ध श्लोक– "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" (जहाँ नारियों का पूजन होता है, वहाँ देवता निवास करते हैं) को भी इसो संदर्भ में बार–बार उद्धृत किया जाता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार बाद के काल में विदेशी आक्रमणों एवं सामाजिक पतन के कारण स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आई।

(ii) नारीवादी एवं आलोचनात्मक इतिहास–लेखन

दूसरी धारा नारीवादी इतिहास–लेखन की है, जिसका प्रतिनिधित्व उमा चक्रवर्ती जैसे विद्वान करते हैं। अपने प्रसिद्ध निबंध ''वाट्येवर हैपेन्ड टू द वैदिक दासी'' में चक्रवर्ती तर्क देती हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के राष्ट्रवादी इतिहास–लेखन ने ऊपरी जाति की शिक्षित आर्य–स्त्री की आदर्श छवि निर्मित की, जबकि वैदिक साहित्य में मौजूद दासी (दास–वर्ग की स्त्री) को पूरी तरह अदृश्य कर दिया गया। वे बताती हैं कि पितृसत्ता वैदिक काल में ही मौजूद थी। पुत्र–प्राथमिकता, संपत्ति पर पुरुष नियंत्रण, दास–प्रथा तथा स्त्री की मुख्य पहचान पत्नी–माता के रूप मेंकृये सब इसके प्रमाण हैं। उनके अनुसार "स्वर्ण युग" की कल्पना औपनिवेशिक आलोचना के जवाब में निर्मित हुई थी, जिसमें भारतीय समाज की नैतिक श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास किया गया।

(iii) संतुलित मूल्यांकन

दोनों दृष्टिकोणों में सत्य का अंश विद्यमान है। वैदिक युग में स्त्रियों की स्थिति उत्तर–वैदिक काल, मध्यकाल तथा अनेक समकालीन सभ्यताओं की तुलना में अपेक्षाकृत बेहतर थी। शिक्षा, धार्मिक भागीदारी एवं सामाजिक गतिशीलता के अवसर उपलब्ध थे। किंतु यह स्थिति पूर्ण समानता की नहीं थी। यह सापेक्ष स्वतंत्रता थी, निरपेक्ष नहीं। पितृसत्तात्मक संरचना, वर्ग–भेद तथा सीमित आर्थिक अधिकार इसकी सीमाएँ थीं। इस प्रकार समकालीन विमर्श में वैदिक स्त्री–अधिकारों का अध्ययन करते समय न तो उन्हें पूर्णतः आदर्श बनाना उचित है और न ही उन्हें पूरी तरह नकारना। ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर संतुलित एवं आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है।

7. पुनर्मूल्यांकन एवं निष्कर्ष –

वैदिक युग में स्त्री–अधिकारों की अवधारणा आधुनिक जेंडर–समानता की अवधारणा से मौलिक रूप से भिन्न थी। यह "समानता" की अपेक्षा "सम्मान" तथा "सहभागिता" पर आधारित थी। शिक्षा का अधिकार, धार्मिक अनुष्ठानों में सक्रिय भागीदारी तथा परिवार में अर्धांगिनी के रूप में सम्मानकृये वैदिक स्त्री–स्थिति के उल्लेखनीय पक्ष हैं। गार्गी, मैत्रेयी तथा अन्य ऋषिकाओं के उदाहरण स्त्री की बौद्धिक एवं आध्यात्मिक क्षमता को स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं। किंतु संपत्ति के उत्तराधिकार, राजनीतिक सत्ता तथा पूर्ण व्यक्तिगत स्वतंत्रता के क्षेत्र में स्त्रियों के अधिकार सीमित ही थे। पितृसत्तात्मक संरचना, पुत्र–प्राथमिकता तथा वर्ग–भेद इस काल की वास्तविकताएँ थीं। समकालीन विमर्श में इस अवधारणा का पुनर्मूल्यांकन दो महत्वपूर्ण दिशाओं में उपयोगी सिद्ध होता है। प्रथम, यह भारतीय ज्ञान–परंपरा में स्त्री की बौद्धिक क्षमता का ठोस ऐतिहासिक साक्ष्य प्रदान करता है। यह साक्ष्य आधुनिक शिक्षा, नारी–सशक्तिकरण तथा सांस्कृतिक आत्मविश्वास को स्वदेशी आधार देता है। द्वितीय, आलोचनात्मक दृष्टि से यह हमें याद दिलाता है कि किसी भी ऐतिहासिक कालखंड को पूर्णतः आदर्श न मानकर उसकी सीमाओं को भी स्वीकार करना चाहिए। "स्वर्ण युग" की कल्पना इतिहास की जटिलताओं को सरल बना देती है तथा उन अधीनस्थ स्त्रियों (जैसे वैदिक दासी) को अदृश्य कर देती है, जिनकी उपस्थिति पितृसत्ता एवं वर्ग–भेद की याद दिलाती है।

संदर्भ सूची –

[1] अल्टेकर, ए.एस. (1956). द पोजीशन ऑफ वुमेन इन हिंदू सिविलाइजेशन. बनारसः मोतीलाल बनारसीदास।

[2] चक्रवर्ती, उमा (1989). "व्हाटेवर हैपन्ड टू द वैदिक दासी?". रिकॉस्टिंग वुमेनः एसेज इन कोलोनियल हिस्ट्री, संपा. कुमकुम संगारी एवं सुदेश वैद. नई दिल्लीः काली फॉर वुमेन।

[3] मुखर्जी, राधाकुमुद (1947). एंशिएंट इंडियन एजुकेशन (ब्राह्मणिकल एंड बुद्धिस्ट). लंदनः मैकमिलन।

[4] ऋग्वेद संहिता (विभिन्न संस्करण).

[5] बृहदारण्यक उपनिषद्.

[6] शतपथ ब्राह्मण.

[7] अयितरेय ब्राह्मण.

[8] हारीत स्मृति.

[9] मनुस्मृति.

[10] जायसवाल, सुवीरा (1991). कास्टः ओरिजिन, फंक्शन एंड डाइमेंशंस ऑफ चेंज. नई दिल्लीः मनोहर।

[11] थापर, रोमिला (2002). अर्ली इंडियाः फ्रॉम द ओरिजिन्स टू ए.डी. 1300. नई दिल्लीः पेंगुइन बुक्स।

[12] शर्मा, आर.एस. (1983). मटेरियल कल्चर एंड सोशल फॉर्मेशंस इन एंशिएंट इंडिया. नई दिल्लीः मैकमिलन।

[13] भट्टाचार्य, एन.एन. (1996). एशिएंट इंडियन रिचुअल्स एंड देयर सोशल कंटेंट्स. नई दिल्लीः मनोहर।

[14] पाण्डेय, राजबली (1969). हिंदू संस्कार. बनारसः चौखम्बा विद्याभवन।

[15] सिंह, उपिंदर (2008). ए हिस्ट्री ऑफ एंशिएंट एंड अर्ली मेडिइवल इंडिया. नई दिल्लीः पियर्सन।

[16] काणे, पी.वी. (1930दृ62). हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र (खंड 1दृ5). पुणेः भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट।

[17] नेशनल काउंसिल ऑफ एजुकेशनल रिसर्च एंड ट्रेनिंग (एनसीईआरटी). भारतीय इतिहास के कुछ विषय (कक्षा 12) तथा संबंधित पाठ्यपुस्तकें।

[18] जाटव, डी.आर. (2005). वैदिक काल में नारी की स्थिति. जयपुरः यूनिवर्सिटी बुक हाउस।